भूमिका-

भगवान श्री रजनीश
अब केवल "ओशो"
नाम से जाने जाते हैं।

ओशो के अनुसार उनका नाम
विलियम जेम्स के शब्द

ओशनिक" से लिया गया है,
जिसका अभिप्राय है
सागर में विलीन हो जाना।

ओशनिक" से अनुभूति की व्याख्या तो होती है, लेकिन, वे कहते हैं कि अनुभोक्ता के संबंध में क्या? उसके लिए हम "ओशो" शब्द का प्रयोग करते हैं। बाद में उन्हें पता चला कि ऐतिहासिक रूप से सुदूर पूर्व में भी "ओशो" शब्द प्रयुक्त होता रहा है, जिसका अभिप्राय हैः भगवत्ता को उपलब्ध व्यक्ति, जिसपर आकाश फूलों की वर्षा करता है सुबह जैसे जरा से फासले पर खड़ी है और सब उस सुबह से मिलना चाहते हैं। लेकिन ठहरिए, सुबह से मिलने से पहले थोड़े-से अंधेरे से गुजरना जरूरी होता है। ऐसे ही अंधेरे जैसे हैं मेरे ये दो शब्द... दो लम्हे...

या यों कहिए कि मैंने आप को किसी शानदार घर में जाने से पहले उस घर के आंगन में पल भर के लिए रोक लिया है। इस घर में रहता है एक सूरज। हर लम्हा लालायित है उस सूरज की सुबह से साक्षात्कार के लिए। इस द्वार पर किसी द्वारपाल-सा मिल गया हूं मैं आपसे। मैं जानता हूं कि आप इस बंद द्वार को खटखटाना चाहते हैं, खोलना चाहते हैं और भीतर जा कर उस विचार-सूर्य से मिलना चाहते हैं। इस मिलन-उत्सव का मैं भी तलबगार हूं। पर जरा अपने भीतरी द्वार खोलकर तो देखिए, वह सूर्य तो आपके और मेरे भीतर भी छुपा है... है न अजीब बात! जिसे यह द्वार खोलकर हम देखना चाहते हैं वह तो इस घर के आंगन में ही हमारे साथ, हमारे भीतर न जाने कब से मौजूद है। यानी घर में भी वही है और आंगन में भी वही है। हम प्यार से या सम्मान से उस सूरज को "ओशो" कहते हैं। यह भी सच है कि इस बंद घर में वह रहे ना रहे पर इस आंगन में खड़ी हर देह के, मन के, आत्मा के घर में वह रहेगा। तो फिर भला यह द्वार को खटखटाने की भूमिका की औपचारिकता में मैं आप सबको क्यों बांधूं?

इसीलिए कह रहा हूं कि यह भूमिका नहीं है, सचमुच यह भूमिका नहीं है। सच तो यह है कि इस घर में प्रवेश करने के लिए किसी भूमिका की जरूरत ही नहीं होती। आप, जहां हैं वहीं यह घर है, वही यह घर है और अब तो आप आंगन में आ ही गये हैं तो उसकी आवाज भी आपके मन के कानों तक पहुंच ही रही होगी। आप यदि अब भी नहीं समझे तो मैं एक सवाल आपसे कर लूं! जरा बताइए तो सही कि ईश्वर ने इस सृष्टि की किताब लिखने से पहले कौन-सी भूमिका लिखी थी या किससे भूमिका लिखवायी थी? क्या इस सृष्टि की कोई भूमिका है? नहीं न, तो फिर इस सूर्य की विचार-किरणों की असीम रेखा में आने के लिए ही भूमिका की क्या जरूरत है? और जब ऐसी कोई जरूरत नहीं है तो फिर भला मैं यह भूमिका की तथाकथित औपचारिकता क्यों निभाऊं?

और सच यह है कि भूमिका तो उसे लिखनी चाहिए जो किताब के मूल रचयिता से भी अधिक प्रतिभाशाली हो। यह तो वैसी ही बचकानी कोशिश है जैसे कि वटवृक्ष से कोई सद्य प्रस्फुटित कोंपल कहे कि आ मेरी उंगली पकड़ ले, मैं तुझे फलने-फूलने का तरीका समझाऊं। शायद यह दुनिया का सबसे अनोखा और पहला उदाहरण होगा कि एक पूर्णतः संपन्न रचयिता की पुस्तक की भूमिका कोई मुझ जैसा अधकचरा सामान्य-सा लेखक लिखे। इसलिए मैं अपनी भूमिका की कमजोर बैसाखियों को, चलने और खड़े रहने में ही नहीं दूसरों को खड़ा करने में भी पूर्णतः सक्षम पांवों के सामने रख कर अपने ही आत्मा के घर में बैठे उस उज्ज्वल सूर्य को शर्मिंदा नहीं करना चाहता। इसीलिए कह रहा हूं मैं कि दोस्तो, यह भूमिका नहीं है, सचमुच यह भूमिका नहीं है। यह तो महज एक प्रणाम है, सीधा-सा, सरल-सा, उस बच्चे की तरह जो चलने के लिए अपने बुजुर्ग की उंगली थामने के लिए लालायित रहता है और उंगली थाम कर गौरवान्वित महसूस करता है। इन दो लम्हों में मेरे इन शब्दों में यदि उंगली पकड़ने के बाद की उस बच्चे की मुस्कान कहीं से छलक पड़े तो मैं समझूंगा कि मेरा यह "प्रणाम" सार्थक रहा।

बड़ी अजीब स्थिति है यह! मुझे ये "दो शब्द" लिखने के लिए तब कहा गया था जब इस "सराय" में वह महान यात्री "सशरीर" मौजूद था, और यह इन दो शब्दों का दुखद पहलू है कि जब मैं इन "दो शब्दों" से गुजर रहा हूं, तब वह यात्री इस सराय को छोड़ चुका है।

लेकिन क्या सचमुच यह सब दुखद है? क्योंकि सराय में आने का सुख या जाने का दुख यानी सराय से जुड़ा हुआ मोह तो उसे कभी नहीं था। तो फिर भला "दुखद" विशेषण में उस महान किरण-पुंज को बांध कर अपना अंधेरा उस पर क्यों थोपूं! और सच तो यह है कि वह किरण-पुंज, वह सूर्य अब भी हम सबके आसपास, हम सबके भीतर मौजूद है। मुझे यकीन है कि आप अब भी, इस पल भी उसके दर्शन कर ही रहे होंगे। सच है कि कुछ सुबहें ऐसी होती हैं जहां उनकी भूमिका या उपसंहार तक में अंधेरा आ ही नहीं सकता। उन सुबहों का न तो कोई आदि होता है और न अंत। इसीलिए तो कह रहा हूं कि यह कोई भूमिका नहीं है, सचमुच यह भूमिका नहीं है।

उसके किरणों के असीम फैलाव के एक छोटे से हिस्से के सामने खड़े हैं हम और अपनी सुविधा के लिए उसे किताब कह रहे हैं, उस किताब को नाम दे रहे हैं--"कहा कहूं उस देस की"।

यह किताब एक ऐसा देश है जहां विविधता ही विविधता है, लेकिन ओशो नामक एक डोर से बंधी एकसूत्रता या एकता भी है। यह एकसूत्रता की डोर हमें किसी वायवीय क्षेत्र की सैर करा कर किसी पलायन के रास्ते की ओर नहीं ले जाती। बल्कि उसमें डूब कर उसके सार को पा कर हमें जीवन के गहनतम पहलुओं से और जीवन के उस पार तक से साक्षात्कार कराती है। कई तरह की जिज्ञासाएं समय-समय पर हम सबके मन में जागती हैं, यही सब जब ओशो के सामने रख दी जाती थीं तब इन जिज्ञासाओं में, इन सवालों में हर बार वे एक किरण फूंक कर उसे रोशन कर देते थे। लगता था कि हर उत्तर में हर बार एक नयी सुबह का जन्म हो रहा है। ऐसी सुबहें जो किसी ढोंग या नकलीपन के आडंबरमय कपड़ों से सख्त परहेज करती हों, जो एकदम धुली-धुली हों, जो सिर्फ सुबहें ही हों...

ये जिज्ञासाएं कभी "साम्यवाद और अध्यात्म" के बीच खिलीं तो कभी "सत्य, बुद्ध, अनुभूति और अभिव्यक्ति" को ले कर जगीं। कभी "दर्शन, ज्ञान, चरित्र" को आधार बना कर उठीं तो कभी बड़ा सरल-सा रूप लेकिन अबूझ-सी पहेली बन कर "प्रार्थना क्या है?" पूछ बैठीं। और उसका अबूझपन, पहेलीपन इतनी सादगी से ऐसे ही किन्हीं शब्दों ने तोड़ा--जब किसी व्यक्ति का प्रेम, एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के प्रति होता है तो उसे हम प्रेम कहते हैं और जब किसी व्यक्ति का प्रेम किसी से बंधा नहीं होता, समस्त के प्रति होता है तब मैं उसे प्रार्थना कहता हूं। धर्म के आडंबरों से घिरे-जकड़े मन को उसने इन शब्दों से उस जकड़न से मुक्त कराया--धार्मिक होने का मतलब है, इतना संवेदनशील हो जाना कि जीवन के सारे तथ्य दिखायी पड़ने लगें। आंख इतनी संवेदनशील होनी चाहिए, चेतना इतनी निर्मल होनी चाहिए कि सब दर्पण की तरह दिखायी पड़ने लगे।

यह पुस्तक उन तमाम कोशिशों की प्रेरणाओं में से एक है जो कोशिशें एक अनदेखी दीवार के उस पार झांकने के लिए की जाती हैं। और निश्चय ही ये कोशिशें हवाई नहीं होतीं, बल्कि पूर्णतः यथार्थ की ठोस जमीन पर खड़ी होती हैं, अपनी यथार्थवादी प्रेरणा की उंगली थामे।

मुझे मालूम है कि ओशो की हर पुस्तक की भूमिका जिन्होंने भी लिखी, उन सभी को पुस्तक के प्रकाशन के बाद ओशो के हस्ताक्षर से युक्त, उसकी "विशेष प्रति" मिली। बस यही अफसोस है कि मुझे भी इस पुस्तक की प्रति तो मिलेगी लेकिन उस पर ओशो के हस्ताक्षर नहीं होंगे। लेकिन क्या सचमुच उस पुस्तक पर ओशो के हस्ताक्षर नहीं होंगे?

मुझे अपने ही "अफसोस" पर हंसी आ रही है। सोचिए तो जरा कि जिसके हस्ताक्षर मन की, आत्मा की पुस्तक पर तक सदा होते रहे हैं और होते रहेंगे, उसके हस्ताक्षरों के इस नश्वर-सी पुस्तक पर होने न होने के प्रति ऐसा अजीब-सा संदेह क्यों? ...

... ओशो, मुझे मालूम है आपने मेरी उस "प्रति" पर यह पुस्तक छपने से पहले ही "हस्ताक्षर" कर दिए हैं।

... और यह देखिए, मेरे सम्मुख अचानक "कहा कहूं उस देस की" का यह पृष्ठ खुला पड़ा है और ओशो की ओजस्वी वाणी कह रही है--मेरा अपना ख्याल यह है कि जब भी मैं बोल रहा हूं तो किसी न किसी अर्थ में बोलना आक्रमण है--आप के ऊपर हमला कर रहा हूं और जाने-अनजाने आप डिफेंस की हालत में भीतर कुछ इंतजाम कर लेते हैं और सुरक्षा की तैयारी कर लेते हैं और तब बातचीत चलती रहती है। और उसमें बराबर एक संघर्ष बन जाता है बजाय संवाद के। और जहां संवाद की स्थिति होती है, जैसे प्रेम के क्षण में कि मैं किसी को प्रेम करता हूं और उसके पास बैठा हूं जहां कि कोई आक्रमण नहीं है, कोई सुरक्षा का सवाल नहीं है, तो वहां शब्द खो जाते हैं, क्योंकि प्रेम इतना महत्वपूर्ण मालूम पड़ता है कि बोलने की जरूरत नहीं। जहां संवाद होता है, वहां बोलना खो जाता है। जहां बोलना होता है, वहां संवाद की संभावना कम हो जाती है।

अब आप ही कहिए, कि क्या इस "आंगन" में मेरे कुछ कहने-बोलने की, इन शब्दों की, भूमिका की जरूरत है? ... मैंने कहा न कि यह भूमिका नहीं है। ... सचमुच, यह भूमिका नहीं है!

-कैलाश सेंगर
बंबई

सुप्रसिद्ध कवि, लेखक, गीतकार एवं पत्रकार श्री कैलाश सेंगर हिंदी भाषा के प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। आपके प्रकाशित काव्य-संग्रहों में "सूरज तुम्हारा है" कविता-संग्रह विशेष उल्लेखनीय है। श्री सेंगर की रचनायें हिंदी के लगभग सभी शीर्षस्थ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं तथा इनकी अनेक कहानियां तमिल, गुजराती, मराठी तथा पंजाबी में अनूदित हो चुकी हैं। आपको 1989 का वैद्यराज दीक्षित पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। सम्प्रति श्री सेंगर हिंदी की अग्रणी पत्रिका "धर्मयुग" के वरिष्ठ उपसंपादक पद पर हैं।